यह दर्शनपाहुड़, इसकी दूसरी गाथा का भावार्थ। **दंसणमूलो धम्मो** इसकी यह सब लम्बी बात चलती है। आता है न, दूसरी गाथा? **दंसणमूलो धम्मो उवइट्ठो जिणवरेहिं सिस्साणं।** शिष्यों को, गणधर आदि को जिनवरदेव ने दर्शन मूल धर्म। दर्शन-सम्यग्दर्शन, ज्ञान-चारित्रसहित, वीतरागता के भावसहित, बाह्य की मुद्रा भी वीतरागता निर्ग्रन्थ

दिगम्बरदशा, ऐसा उसे मोक्षमार्ग अथवा उसे जैनदर्शन अथवा उसे जैनमत कहने में आता है। समझ में आया ? उसका मूल वह स्वयं है और उसका मूल सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन बिना वह नहीं होता।

यहाँ सम्यग्दर्शन को पहिचानना किस प्रकार, यह बात चलती है। सम्यग्दर्शन, यह आत्मा पूर्ण शुद्ध आनन्द का धाम है—ऐसी अन्तर्मुख होकर अनुभव होकर दृष्टि होना, इसका नाम सम्यग्दर्शन है। इसका नाम धर्म की पहली सीढ़ी, धर्म की शुरुआत। उसे पहिचानने का मुख्य बाह्य चिह्न क्या ? (क्योंकि) वह तो प्रतीति है। सम्यग्दर्शन तो प्रतीति है। प्रतीति को पहिचानने का साधन क्या ? प्रतीति, प्रतीति को सीधे नहीं जानती। प्रतीति तो निर्विकल्प प्रतीति है, उसे अनुभूति अर्थात् आत्मा का स्वसंवेदन ज्ञान होने पर आत्मा स्व, उसका प्रत्यक्ष ज्ञान का वेदन होने पर, अनुभूति – आत्मा का अनुभव होता है, वह अनुभूति सम्यग्दर्शन का मुख्य बाह्य चिह्न है, ऐसी बात है। जरा सूक्ष्म है।

वस्तु जो है पूरा आत्मा, वह तो अनन्त पर्याय का पिण्ड, गुण और ऐसे अनन्त गुण का पिण्ड, वह आत्मा है। ऐसा अभेद आत्मा द्रव्य की दृष्टि। अपने यहाँ हुआ है न... ? द्रव्यदृष्टि। यह कहते हैं कि मुझे... कलकत्ता में कोई उनके हैं।

मुमुक्षु : द्रव्यदृष्टि, वह सम्यग्दृष्टि।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहाँ से निकाला ? वहाँ भी प्रश्न आया। वापिस यहाँ आया। कल कहता था... थानवाला ने किया था। वहाँ कोई पड़ोसी है। नया मुमुक्षु है। सम्यग्दृष्टि क्या ? स्वभाव वह दृष्टि है।

मुमुक्षु : द्रव्य का अर्थ तो पैसा होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसा होता है, परन्तु धूल भी नहीं होता। रामजीभाई ! कोई तुम्हारा पड़ोसी वहाँ रहता है... 'द्रव्यदृष्टि, वह सम्यग्दृष्टि।' खबर नहीं होती, द्रव्य अर्थात् क्या ?

द्रव्य अर्थात् इस परमाणु को भी द्रव्य कहते हैं, धर्मास्ति को द्रव्य कहते हैं। उस द्रव्य की यहाँ बात नहीं है। पैसा तो बहुत द्रव्यों का पिण्ड है। एक-एक रजकण को द्रव्य कहा जाता है। ऐसे रजकण का पिण्ड पैसा विभाविक द्रव्य है, स्वाभाविक द्रव्य नहीं।

यहाँ आत्मा जो अन्दर चैतन्यमूर्ति, शरीर के रजकण इस मिट्टी से भिन्न और अन्दर

कर्म से भिन्न तथा पुण्य-पाप के विकल्पों की क्रियाकाण्ड का विभावभाव है, उससे भिन्न और एक समयमात्र की पर्याय जितना नहीं, उसे यहाँ द्रव्य कहा जाता है। उस द्रव्य की अन्तर्दृष्टि होना, इसका नाम सम्यग्दर्शन है। परन्तु उस सम्यग्दर्शन के साथ ज्ञान की अनुभूति (होती है)। ज्ञान है, ऐसा वेदन में आता है। अनादि का राग का और पुण्य के विकल्प का वेदन, आकुलता का अनुभव था, वह द्रव्य पर दृष्टि होने से ज्ञान में शान्ति और आनन्द का वेदन आता है। अनुभूति (होती है), वह अनुभूति वह सम्यग्दर्शन-प्रतीति का बाह्य अविनाभावी मुख्य लक्षण है। कितने विशेषण दिये ? बाह्य, मुख्य और अविनाभावी। क्या होगा यह सब ?

अर्थात् कि जहाँ-जहाँ आत्मा का भान, सम्यग्दर्शन होता है, वहाँ-वहाँ आनन्द की अनुभूति होती है और आनन्द की अनुभूति-वेदन हो, वहाँ-वहाँ सम्यग्दर्शन होता ही है, इस प्रकार एक-दूसरे को अविनाभाव अर्थात् इसके बिना यह नहीं और इसके बिना यह नहीं - ऐसा गिनकर वह सम्यग्दर्शन प्रतीति का लक्षण है, उसका यह अनुभूति बाह्य मुख्य लक्षण है। आहाहा ! ऐ... सेठी ! सब नया लगे ऐसा है। आहाहा ! वस्तु ऐसी है न ! एकदम चैतन्यस्वभाव, अस्ति जिसका अस्तित्व सत्तापना... यह सम्यग्दर्शन की पर्याय, केवलज्ञान की पर्याय, ऐसी पर्यायें तो श्रद्धागुण में ऐसी पर्याय अनन्त पड़ी हैं। ज्ञानगुण में केवलज्ञान की ऐसी अनन्त पर्यायें पड़ी हैं। ऐसा जो पूरा द्रव्य, ऐसा अनन्त गुण का एकरसरूप द्रव्य, इस प्रकार ही है न ! वस्तु इस प्रकार है, इसलिए इस प्रकार वस्तु का स्वीकार अन्तर्मुख दृष्टि में होवे, तब उसे ज्ञान के वेदन में भी अनुभूति में आनन्द का भी स्वाद आता है। आकुलता का जो स्वाद अनादि का था, वह दृष्टि बदली; इसलिए अनाकुलता का स्वाद भी साथ में आया। समझ में आया ? वजुभाई ! ऐसा है। आहाहा !

इसलिए यहाँ अनुभूति को प्रतीति के लक्षण के साथ इसे कहना, यह बाह्य है; इसलिए एक पर्याय दूसरी पर्याय को बतलाती है, इसलिए उसे व्यवहार कहा है और मुख्य क्यों कहा ?—कि सब गुण... गौण चिह्न बहुत हैं, यह कहेंगे। उनमें मुख्य चिह्न है तो वह होता ही है। परन्तु अनुभूति ज्ञान की पर्याय है, उससे दर्शन की पर्याय को बतलाना, वह व्यवहार है। आहाहा !

मुमुक्षु : सूक्ष्म बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सूक्ष्म बात है ? लो, पण्डितजी को सूक्ष्म बात लगती है। यह तो जयपुर के बड़े पण्डित हैं। यह भी अपने पण्डित हैं, प्रोफेसर सहारनपुर। इसमें पण्डित का कुछ काम नहीं है। यहाँ तो आत्मा की अन्तर्दृष्टि का काम है। आहाहा!

परम प्रभु की अन्तर्दृष्टि में भगवान अनन्त गुण की एकरूप वस्तु, महासत्ता, भेद किये बिना द्रव्य की दृष्टि होना अर्थात् ध्रुव में दृष्टि का प्रसार होना, इसलिए उस द्रव्यदृष्टि में प्रतीति-यह वस्तु अखण्ड है—ऐसी प्रतीति अभेद है, आनन्द है, शुद्ध है, ऐसी प्रतीति हुई, उसके साथ ज्ञान का अनुभव हुआ, ज्ञान का-गुण का अनुभव (हुआ)। प्रतीति का अनुभव परन्तु वह तो श्रद्धारूप हुई किन्तु ज्ञान का आत्म अनुभव कि ज्ञान यह है, राग का अनुभव छूटकर आत्मा के ज्ञान का अनुभव हो, उस अनुभूति को समकित का मुख्य बाह्य लक्षण कहा जाता है। कहो, समझ में आया ? इसके अतिरिक्त दूसरे लक्षण कौन-कौन हैं, यह सब वर्णन चलता है। समझ में आया ? वह आया है न ? ऐसा अन्यत्र कहीं नहीं है, हों! जैन वीतराग के अतिरिक्त ऐसा मार्ग (कहीं नहीं है)। इनके भाई का पुत्र आया है न ? अन्यत्र कहीं नहीं है, हों! रजनीश में या अमुक में और अमुक में सर्वत्र गप्प है।

मुमुक्षु : गप्प होती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसके लिये तो इसे कहा। धूल में महामिथ्यात्व का उसमें सब है। आहाहा! विपरीत तत्त्व की मान्यता, उसे ही यहाँ मिथ्यात्व कहते हैं। उसे विपरीत तत्त्व की कुछ (खबर नहीं है)। विपरीत क्या है, इसकी खबर नहीं है। विकल्प से शून्य हो जाओ। शून्य हो जाओ, तो जड़ हो जाओ, ऐसा।

यहाँ तो कहते हैं परमेश्वर त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव (कहते हैं) भाई! तू परिपूर्ण वस्तु है न! परन्तु वस्तु न हो तो द्रव्य किस प्रकार कहना ? और वस्तु में शक्ति न हो तो वस्तु तो एक है और शक्ति तो अनन्त है। इसलिए उसे गुण कहने में आता है और उसके साथ का परिणमन होता है, उसे पर्याय कहने में आता है। अब यह तीन वस्तु तो वस्तु का स्वरूप ऐसा है। इस प्रकार वस्तु के अतिरिक्त कोई दूसरे प्रकार से कहे तो अत्यन्त विपरीत श्रद्धा और विपरीत मान्यता का वहाँ पोषण है। देवचन्दजी! चाहे तो जैन का साधु नाम धराकर इससे कुछ फेरफार कहे, वह सब मान्यता विपरीत है।

यहाँ कहते हैं **तत्त्वार्थश्रद्धान तो बाह्य चिह्न है।** यहाँ मुख्य नहीं लिया, भाई!

पहले में मुख्य लिया था। यह तो हो और सम्यग्दर्शन न भी हो। और अनुभूति हो और सम्यग्दर्शन न हो, ऐसा नहीं हो सकता। यह तो चिह्न हो और सम्यग्दर्शन न हो और सम्यग्दर्शन हो और यह हो। समझ में आया? ....इसमें तो सब फेरफार है, हों! इस कलिकाल में। मैंने कितनी ही जगह देखा, बहुत फेरफार है। इसके प्रमाण में भी अर्थ नहीं किया। देने जैसे स्थिति नहीं है, रखने जैसा नहीं है।

मुमुक्षु : कचरा घर में (नहीं रखा जाता)।

पूज्य गुरुदेवश्री : कचरा डालकर वापस किसी के घर में गिर जाए। किसी का कुछ। यह तो यह...

कहते हैं कि **तत्त्वार्थश्रद्धान तो बाह्य चिह्न है। जीव, अजीव,...** जीव है, वैसे अजीव भी जगत में चीज़ है। पाँच पदार्थ हैं। समझ में आया? जीव है, ऐसे अनन्त जीव हैं। इसके अतिरिक्त अजीव भी अनन्त हैं। परमाणु आदि। अजीव हैं, आस्रव है, पुण्य-पाप के भाव वे आस्रव हैं। दया, दान, व्रत का भाव, वह पुण्यास्रव है और हिंसा, झूठ, चोरी का भाव, वह पापास्रव है। वह आस्रव है। अर्थात् वह वस्तु में नहीं है और नया होता है। विकल्प उठते हैं, ऐसा तत्त्व है। वह आस्रव भी है और बन्ध है। वह आस्रव, उतना स्वभाव वहाँ अटका है। आया, उसे आस्रव कहा और अटका, उसे बन्ध कहा है। उस समय की अवस्था। समझ में आया? आहाहा! यह बात! पर्याय में पुण्य-पाप के विकल्प उठते हैं, उन्हें नवतत्त्व में जैसे हैं, वैसे इसे मानना चाहिए। समझ में आया?

मुमुक्षु : बहुत मेहनत।

पूज्य गुरुदेवश्री : मेहनत कुछ नहीं होती। सीधी बात है। जीव वस्तु है तो उसके अतिरिक्त दूसरी अजीव वस्तु है। यह जीव है, तब अजीव दूसरी चीज़ ही है। इसे जीव क्यों कहा? दूसरे अजीव हैं इसलिए। उन्हें अजीव क्यों कहा? कि उनसे भिन्न जीव है इसलिए; और अनादि से इसमें पुण्य और पाप के भाव होते हैं। ऐसे न हों तो वहाँ आनन्द का अनुभव होना चाहिए। वह आस्रवतत्त्व है, ऐसा इसे प्रतीति में आना चाहिए। समझ में आया?

बन्ध। पुण्य-पाप के भाव, चाहे तो दया, दान, व्रत का, तप का, अपवास का

विकल्प हो, वह परिणाम भी बन्ध है क्योंकि आत्मा अबन्धस्वरूप है, उसमें अटकी हुई वृत्ति है, इसलिए उसे बन्ध कहा जाता है। उसे इस प्रकार बन्ध है, ऐसा जानना चाहिए।

संवर। शुद्धस्वरूप जो त्रिकाल है, उसके आश्रय से आस्रव के परिणाम रुककर निर्मल शुद्ध परिणाम होते हैं, वह पर्याय है, शुद्धपर्याय है। नयी शुद्धता उत्पन्न होती है, अशुद्धता मिटती है, ऐसी संवरदशा भी है। यह संवर, यह संवर, हों! लोग मान बैठे कि ऐसे संवर कराया... वह संवर-फंवर नहीं है। आहाहा! समझ में आया? भगवान आत्मा... नवतत्त्व के भेदवाली श्रद्धा की अभी बात है न? यह संवरतत्त्व है। स्वरूप शुद्ध द्रव्यस्वभाव है, उसकी प्रतीति और उसका ज्ञान होने पर निर्मल शुद्धपर्याय (प्रगट होती है, वह संवर है।) समकित, वह भी एक संवर है। समझ में आया? वह संवर पर्याय है।

निर्जरा है। पहले शुद्धि नहीं थी और शुद्धि हुई, उस शुद्धि की अवस्था को निर्जरा कहने में आता है तो वह अवस्था है **और मोक्ष** पूर्ण शुद्ध अवस्था है। शुद्धता की शुरुआत, शुद्धता की वृद्धि और शुद्धता की परिपूर्णता। ऐसे तत्त्व होते हैं। न हो तो साधकपना और सिद्धपना कुछ साबित नहीं होता। समझ में आया? यह वस्तु की स्थिति बताते हैं। आहाहा! क्या करे? लोगों को तत्त्व का अभ्यास घट गया और बाहर का व्यर्थ का रह गया। सवेरे एक भाई आये थे न, (वे कहते थे) भगवान को केवलज्ञान हुआ, वह इस तपस्या और क्रिया करने से हुआ। फिर भले... पहले तो करे, तब होवे न? कहो, तपस्या की। अरे! बापू! तपस्या किसे कहना? रोटियाँ नहीं खायी, वह तपस्या नहीं है। खबर नहीं होती। अन्दर आत्मा के आनन्द में इतने लीन हो गये कि आनन्द के वेदन में आहार ग्रहण की वृत्ति ही उत्पन्न नहीं हुई और इससे उसे आहार का संयोग भी नहीं मिला। उसे लोग आहार नहीं लिया, नहीं खाया, उसे तपस्या कहते हैं। वह तप नहीं है।

अन्तर स्वरूप में इच्छा उत्पन्न हुए बिना, इच्छा का निरोध अर्थात् इच्छा उत्पन्न नहीं हुई और आनन्द की वीतराग अवस्था उत्पन्न हुई, उसे भगवान तप कहने में आता है। उस तप द्वारा भगवान को केवलज्ञान हुआ है। आहा! सेठी! वे कहें, बारह-बारह महीने हठ से करके सोवे नहीं, आहार खाया नहीं, ऐसा बोले। स्तुति बोले न पहली? स्तुति। शुरुआत में '...' ऐसा आता है। भूल गये। सवेरे बोलते थे। मैं तो कभी नहीं बोलता था। दूसरा पढ़ता था। समझ में आया? भगवान महावीर चैन से सोते नहीं, उन्होंने कुछ अन्न खाया नहीं,

पानी... पानी पीया नहीं, चैन से सोये नहीं। उन्हें सब दु:ख होगा। ऐसी व्याख्या लोग वहाँ सुनें। आहाहा! ऐ... मगनभाई!

मुमुक्षु : दया तो बहुत आती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यही... था? इनका काका यह धुनावे। आहार नहीं किया था, वह तो बाहर की चीज़ नहीं आने की थी, वह तो वहाँ रुकी हुई चीज़ ही थी। आनेवाली थी ही नहीं। इसलिए आहार छोड़ा, ऐसा कहना, वही मिथ्या भाव है। उसे इच्छा उत्पन्न नहीं हुई। क्यों? इच्छा हुई थी और रोकी, ऐसा नहीं। अतीन्द्रिय आनन्द के अन्तर में लवलीनता के कारण इच्छा उत्पन्न नहीं हुई, वह इच्छा का निरोध होकर अनिच्छुक आनन्दभाव की उत्पत्ति हुई, अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद की उत्पत्ति हुई, उसे भगवान 'तपयंति इति तप:' उसे तप कहने में आता है। इस तप की खबर नहीं होती। रोटियाँ नहीं खायी, इसलिए हमने रोटियाँ नहीं खायी, वह अपने उपवास (हो गया)। देवचन्दजी! ऐसा चलता है। आहाहा! भेड़ चलती है न... क्या कहते हैं? भेड़। भेड़ चलती है न, भेड़ एक के पीछे दूसरी चलती है परन्तु यह गिरेगी कुँए में जाकर, तो कहे सब कुँए में गिरो। गिरते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : महावीर का हवाला देते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : महावीर का हवाला कहा न! सवेरे कहा। बापू! सूक्ष्म बात है, बापू! तुमने सुना नहीं। आये थे। भगवान को तब तो पहले करना पड़े न? पहले व्रत, नियम सब क्रिया करे, तब केवलज्ञान होता है न! कहो, विकल्प करे, तब केवलज्ञान होता है? वह तो राग है।

यहाँ तो कहते हैं, भगवान को मोक्ष हुआ, वह संवर-निर्जरा द्वारा हुआ अर्थात् आत्मा पवित्र के आश्रय से शुद्धि हुई और शुद्धि की वृद्धि हुई, वह वृद्धि होने से पूर्ण शुद्धि हुई, इसका नाम मोक्ष है। ऐसा इसे श्रद्धा में आना चाहिए। आहाहा! समझ में आया? ऐसे सात तत्त्व हैं।

उनमें पुण्य और पाप को जोड़ देने से नव पदार्थ होते हैं। आस्रव के दो भाग कर दो, शुभ और अशुभ, तो नौ पदार्थ हुए। समझ में आया? **उनकी श्रद्धा अर्थात् सन्मुखता,..** श्रद्धा का अर्थ वस्तुस्वरूप नौ प्रकार है, उसके सन्मुख कि यह है ऐसी बुद्धि

और **रुचि अर्थात् तद्रूप भाव करना...** जैसा भाव है, वैसा श्रद्धा में लेना। यह सब शब्द वहाँ के-पंचाध्यायी के हैं। समझ में आया? **तथा प्रतीति अर्थात् जैसे सर्वज्ञ ने कहे हैं, तदनुसार ही अंगीकार करना...** यह प्रतीति। यह प्रतीति भी बाह्य है, ऐई! भाई! सम्यग्दर्शन की प्रतीति वह अन्तर का लक्षण और यह है, वह बाह्य लक्षण है। समझ में आया? यह बाह्य चिह्न की बात चलती है न? क्या होगा इसमें? ऐई! मोहनभाई! ऐसा सब मेहनत करके समझना है, परन्तु वस्तुस्थिति है, ऐसी इसके ज्ञान में तो आना चाहिए न! नहीं तो विपरीतता है और विपरीतता करानेवाले मिलें और प्रसन्न-प्रसन्न हो जाए कि आहाहा! गजब भाई, गजब भाई। समझ में आया?

जैन परमेश्वर वीतराग त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव की वाणी में ऐसा स्वरूप आया, इसके अतिरिक्त यह स्वरूप अन्यत्र कहीं नहीं हो सकता। अज्ञानी अपनी कल्पना से धर्म की निर्विकल्पता की, समाधि की बातें करे, वे सब जड़ हो जानेवाले हैं।

मुमुक्षु : इसकी अपेक्षा समयसार सरल है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सरल कुछ नहीं, यह भी सरल है। यह तो... ज्ञान है। ऐसा सब इसे जानना पड़ेगा या नहीं? नहीं जाने और ऊपर-ऊपर से जाने तो कोई दूसरी विपरीतता हो जाएगी। अकेला आत्मा... आत्मा... आत्मा। परन्तु आत्मा वह कैसा? एक व्यक्ति को पूछा था, (आत्मा) कैसा? पहले दिखायी दे लाल, फिर दिखायी दे सफेद। ऐसे के ऐसे। लाल दिखायी दे न? लाल... लाल, फिर सफेद हो जाए। वह तो जड़ है। वहाँ कहाँ आत्मा था? आहाहा!

कहते हैं **प्रतीति अर्थात् जैसे सर्वज्ञ ने कहे हैं, तदनुसार ही अंगीकार करना और उनके आचरणरूप क्रिया...** ....यह तो व्रतादि की क्रिया का विकल्प है न? **इसप्रकार श्रद्धानादिक होना सो सम्यक्त्व का बाह्य चिह्न है।** लो, देखो! श्रद्धा आदि, वहाँ प्रतीति भी साथ में आयी। परन्तु वह ज्ञान की प्रधानता की प्रतीति है। यह प्रतीति सम्यग्दर्शन की प्रतीति नहीं है। समझ में आया? यह तो पंचाध्यायी का कार्य है यह सब। सीधे-सीधा... **बाह्य चिह्न है।** क्या कहा? यह समकित का, प्रतीति रुचि श्रद्धा यह बाह्य चिह्न है क्योंकि जानने में आया न? कि यह ऐसा है, यह ऐसा है, यह ऐसा है। ज्ञान में वास्तव में तो ज्ञान की पर्याय है। यह प्रतीति, श्रद्धा की पर्याय है। समझ में आया?

अनुभूति की पर्याय तो वेदन की साथ में स्वाद आया वह (है), इसलिए उसे मुख्य कहा। इसे मुख्य नहीं परन्तु ऐसा बाह्य लक्षण (होता है)। ऐसा होता है, उसे ऐसा होता है। ऐसा होवे और यह न हो वह दूसरा, परन्तु ऐसा होवे उसे तो ऐसा होता ही है, इतना।

मुमुक्षु : एकतरफी।

पूज्य गुरुदेवश्री : एकतरफी। इसलिए उसे बाह्य लक्षण में... मुख्य लक्षण है, उसे मुख्य कहा। दोनों ओर। जहाँ अनुभूति होती है, वहाँ सम्यग्दर्शन होता ही है। सम्यग्दर्शन हो, वहाँ अनुभूति होती ही है। समझ में आया?

तथा प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य भी सम्यक्त्व के बाह्य चिह्न हैं। देखो! यह बाह्य चिह्न आया। प्रशम, इसकी व्याख्या करेंगे। **अनंतानुबंधी क्रोधादिक कषाय के उदय का अभाव, सो प्रशम है।** अनन्तानुबन्धी के उदय का अभाव, वह प्रशम और स्वरूपाचरण में स्थिरता। शान्ति की उतनी स्थिरता, वह प्रशम है। उसे प्रशम कहते हैं। कहो, यह स्वरूपाचरण। स्वरूपाचरण का विवाद उठता है न? देवचन्दजी! तुम्हारे यहाँ कहते हैं न? स्वरूपाचरण चौथे में नहीं होता। बड़ा विवाद उठाते हैं। यहाँ कहते हैं कि अनन्तानुबन्धी के अभाव से जो प्रशम होता है, वास्तविक प्रशम होता है, वह अन्दर स्थिरता का आचरण है। आहाहा! समझ में आया? परन्तु है वह समकित का बाह्य चिह्न। समकित का मूल लक्षण तो प्रतीति है। ये सब लक्षण, बाह्य चिह्न कहे जाते हैं। समझ में आया? इसकी अपेक्षा समयसार सरल पड़ता है, ऐसा (किसी ने) कहा। समयसार में तो बहुत बात चली है। बारम्बार आयी हो, इसलिए जरा संक्षिप्त में (आया हो) परन्तु इसका विस्तार किस प्रकार है, उसे समझे बिना इसे वास्तविक सम्यक्त्व में पकड़ में नहीं आता। समझ में आया?

वस्तु... देखो! पंचाध्यायीकार ने कितना स्पष्ट कर डाला! जितनी विपरीतता है, उसके सामने इतने सुलटे भाव इसे आना चाहिए न! इसके बिना विपरीतता निकलेगी कैसे? आहाहा! अभी तो चारों ओर धमाधम चली है। एक ओर अमरचन्दजी कहते हैं, एक ओर... रजनीश। धमाधम चलती है। ओहोहो! लोगों को, बेचारों को कुछ खबर नहीं होती।

मुमुक्षु : लोग कहें सोनगढ़वाले...

पूज्य गुरुदेवश्री : उन्हें जँचे ऐसा कहे। उन्हें यह समझ में न आये तो ऐसा न कहे, तब वे क्या कहे? सोनगढ़वाले... ऐसा न कहे वे? उनके वस्तु के स्वरूप में जो स्थिति है, जैसा है वैसा उन्हें ख्याल में न आवे और उससे यह दूसरा आवे, इसलिए उन्हें ऐसा ही लगे कि यह एक नया मार्ग निकाला। परन्तु मार्ग कहाँ? यह तो है और शास्त्र में भी है। मोक्षमार्गप्रकाशक में कहा है, नहीं कहा? यह नवीन उसे नहीं कहा जाता। समझ में आया? आता है या नहीं? किसमें? सातवें (अधिकार) में? सातवें में कहीं आता है। कितना पृष्ठ है? (पृष्ठ २२३)

यहाँ कोई कहे कि परम्परा छोड़कर नवीन मार्ग में प्रवर्तन करना योग्य नहीं है? यहाँ सब बात ली है।

उससे कहते हैं—यदि अपनी बुद्धि से नवीन मार्ग पकड़े तो योग्य नहीं है। जो परम्परा अनादिनिधन जैनधर्म का स्वरूप शास्त्रों लिखा है, उसकी प्रवृत्ति मिटाकर पापी पुरुषों ने बीच में अन्यथा प्रवृत्ति चलायी हो, उसे परम्परा मार्ग कैसे कहा जा सकता है? समझ में आया? **तथा उसे छोड़कर पुरातन जैनशास्त्रों में जैसा धर्म लिखा था, वैसे प्रवर्तन करे तो उसे नवीन मार्ग कैसे कहा जा सकता है?** सब उल्टा चला हो, उसे परम्परा कैसे कही जाए? कहते हैं। और नवीन किया हो और सच्चा हो, उसे नवीन कैसे कहा जाए? चेतनजी! सबकी सम्हाल पकड़ी है, लो!

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा ही होता है न! चेतनजी कहते हैं मोक्षमार्ग दो न माने, वह भ्रम है। यह कहते हैं कि मोक्षमार्ग दो माने, वह भ्रम है। इसके सामने वे कहते हैं। बात की तुलना जहाँ पक्षपात बिना सत्य के पक्ष से न हो, वहाँ ऐसा ही होता है। इसमें अनन्त काल ऐसा ही किया है न! तीर्थंकर के जीव ने ऐसा किया है या नहीं? तीर्थंकर तो बाद में हुए। इससे पहले उन्होंने सब ऐसा किया है, तीर्थंकर के जीव ने भी (ऐसा किया है)। आहाहा!

मुमुक्षु : महावीर के जीव ने....

पूज्य गुरुदेवश्री : महावीर के जीव ने स्वयं किया है। मारीचि, ऋषभदेव भगवान के समय में भरत का पुत्र (था)। सब विपरीतता की थी। भगवान की मौजूदगी में अन्य मत चलाया था। क्या हो?

मुमुक्षु : भगवान ने रोका नहीं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन रोके ? देव ने आकर रोका। दूसरों को रोका। नग्नपना था, उसमें हरितकाय खाते थे (तो कहा)-नहीं, ऐसा नहीं खाया जाता। वेष बदल डालो फिर खाओ, ऐसा कहा। विपरीत मार्ग... उसके पाप के उदय से ऐसा चलना हो, उसे क्या कहे ? ऐसे दो बड़े पन्थ पड़ गये। कोई देव आया नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : भगवान को आहार मिलता नहीं था तब....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु क्या करे ? जहाँ आगे होनेवाला हो, उसे वहाँ रोके कौन ? न होनेवाला हो, उसे बनावे कौन ? ऐसी बात है।

यहाँ कहते हैं, अनन्तानुबन्धी का अभाव। उसका प्रशम। **उसके बाह्य चिह्न जैसे कि सर्वथा एकान्त तत्त्वार्थ का कथन करनेवाले अन्यमतों का श्रद्धान, बाह्यवेश में सत्यार्थपने का अभिमान करना,...** देखो! **पर्यायों में एकान्त के कारण आत्मबुद्धि से अभिमान तथा प्रीति करना, वह अनंतानुबंधी का कार्य है,...** क्या कहते हैं ? एक तो सर्वथा एकान्त तत्त्व के कहनेवाले। सर्वज्ञ के अतिरिक्त। द्रव्य ही माने, पर्याय न माने। पर्याय माने, द्रव्य न माने - इत्यादि। **अन्यमतों का श्रद्धान,...** यह अनन्तानुबन्धी का लक्षण है। अनन्त संसार का कारण ऐसी कषाय का यह लक्षण है तथा बाह्य वेष (अर्थात्) वीतराग के अतिरिक्त बाह्य नग्नमुनि का वेष। मुनि का, इसके अतिरिक्त दूसरा बाह्य वेष, उसमें सत्यार्थपने का अभिमान करना कि ऐसा ही होता है, ऐसा ही होता है। और पर्याय में एकान्त। इस शरीर में। यही मैं और इसकी क्रिया करनेवाला मैं, ऐसा अभिमान तथा शरीर की प्रीति करना, वह अनन्तानुबन्धी का कार्य है। समझ में आया ? अनन्त संसार के कारणरूप कषाय का यह कार्य है, ऐसा कहते हैं।

वीतराग के अतिरिक्त अन्यमत ने कही हुई तत्त्वों की श्रद्धा, और उनका कहा हुआ बाह्य वेष मानना और उसका अभिमान करना कि नहीं, ऐसा ही होता है। ऐसा ही वेष अभी तो ऐसा ही होता है। और शरीर में एकान्त से आत्मबुद्धि। यह अभिमान करना (कि) ऐसा शरीर हमारा, हमारा शरीर रूपवान, हमारा शरीर बलवान। कभी दवा की वह (गोली आदि) नहीं ली। ऐसा जो अभिमान, वह अनन्त संसार का कारण कषाय है।

और **पर्यायों में एकान्त के कारण आत्मबुद्धि से अभिमान तथा प्रीति करना...** शरीर में प्रेम करना। भगवान आत्मा का प्रेम छोड़कर इस जड़ परमाणु का जो दल, उसका प्रेम, वह अनन्तानुबन्धी का कार्य है। अनन्त संसार के बढ़नेरूप कषाय का वह कार्य है। आहाहा! समझ में आया?

वह जिसके न हो तथा किसी ने अपना बुरा किया तो उसका घात करना आदि मिथ्यादृष्टि की भाँति विकारबुद्धि अपने को उत्पन्न न हो तथा वह ऐसा विचार करे कि मैंने अपने परिणामों से जो कर्म बाँधे थे, वे ही बुरा करनेवाले हैं,... पूर्व में परिणाम से पाप बाँधे थे, उस पाप के कारण प्रतिकूल संयोग आता है। कोई दूसरा (प्रतिकूल नहीं है), वह तो निमित्तमात्र है – ऐसा विचार कर प्रशमभाव करे। समझ में आया? **अन्य तो निमित्तमात्र हैं...** दूसरा तो निमित्तमात्र है। पूर्व में मैंने पाप के परिणाम किये थे, उनसे पाप बँधा था, उसके कारण यह प्रतिकूल संयोग है। दूसरा कोई देने में समर्थ नहीं है।

मुमुक्षु : हमारे कर्म का जोर बहुत।

पूज्य गुरुदेवश्री : कर्म के जोर की कहाँ बात है? यहाँ तो पाप परिणाम होने पर उनसे परमाणु बँधते हैं, उसमें प्रतिकूल संयोग हुए। इतना निमित्त है। वह तो आनेवाला था, उसे यह निमित्त हुआ। प्रतिकूल संयोग को यह पाप प्रकृति निमित्त हुई। पाप प्रकृति को परिणाम निमित्त हुए। समझ में आया?

और **ऐसी बुद्धि अपने को उत्पन्न हो – ऐसे मंदकषाय है...** लो! **तथा अनंतानुबंधी के बिना अन्य चारित्रमोह की प्रकृतियों के उदय से आरम्भादिक क्रिया में हिंसादिक होते हैं, उनको भी भला नहीं जानता;...** धर्मी तो दूसरे हिंसादि के भाव हों, उन्हें भला नहीं जानता। परिणाम होते हैं, समकित है परन्तु अभी चारित्र नहीं है। हिंसा के परिणाम होते हैं, विषयवासना के परिणाम होते हैं, ऐसे युद्ध के भाव आते हैं। राजकुमार समकिती हो (तो ऐसे भाव आते हैं) परन्तु उन्हें भला नहीं जानता। समझ में आया?

हिंसादिक होते हैं, उनको भी भला नहीं जानता; इसलिए उससे प्रशम का

अभाव नहीं कहते। लो, इससे समकिती को प्रशम का अभाव है, ऐसा नहीं कहा जाता। युद्ध में खड़ा हो, विषयवासना के भाव आये हों, इसलिए उसे प्रशम नहीं है, ऐसा नहीं है। क्योंकि अन्दर में अनन्तानुबन्धी के अभाव का प्रशम प्रगट हुआ है और बाह्य में भी कोई प्रतिकूलता करे, उसके सन्मुख क्रोध नहीं करता। 'यह मुझे करता है' ऐसा मानकर नहीं करता। अस्थिरता का क्रोध आवे, वह अलग (बात है) 'यह मुझे प्रतिकूलता करता है' ऐसा नहीं मानता। पूर्व के मेरे पाप के परिणाम थे, वे बँधे और उनके कारण प्रतिकूलता है। प्रतिकूलता क्या, ज्ञेय है परन्तु वह आता है न, बोला जाता है न! एक बोल प्रशम कहा। समकिती का एक बाह्य लक्षण यह प्रशम भी है। इस प्रशम की व्याख्या की।

मुमुक्षु : सब व्याख्या लम्बी-लम्बी।

पूज्य गुरुदेवश्री : लम्बी नहीं। इसके अन्दर विस्तार से समझाने की पद्धति है। इस प्रकार से न समझे और आगे कुछ गड़बड़ कर दे तो गड़बड़ चलती जाएगी। समझ में आया? प्रशम, ऐसा माने कि ठीक! समकिती अर्थात् अब उसे जरा भी क्रोध का विकल्प का विकल्प आता ही नहीं। आवे तो वह समकिती नहीं, ऐसा नहीं है। समझ में आया? आहाहा! आगे एक जगह आता है। लो! कोई ऐसा माने कि समकित हो तो फिर चारित्र लेता ही है, त्याग करता ही है, नहीं तो समकित नहीं है। आता है अन्दर, इस ओर के पृष्ठ में कहीं है। नहीं, ऐसा नहीं है। अन्दर अनन्तानुबन्धी, जो अनन्त संसार का कारण... निमित्त से वह होता है, इसलिए यह निमित्त मुझे प्रतिकूल है, यह अनन्त संसार के कारण की कषाय है, ऐसी कषाय ज्ञानी को नहीं होती। समझ में आया?

मुमुक्षु : हमको आगे बढ़ना चाहिए। सम्यग्दर्शन की बात....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु आगे बढ़ने में कहाँ तक बढ़े? उसे सहज बढ़े या ऐसा का ऐसा बढ़ जाए? हठ से व्रत ले? वह तो स्वरूप की स्थिरता का पुरुषार्थ जगे, तब उसे ऐसा विकल्प होता है कि यह आस्रव का-व्रत का विकल्प होता है। उस आस्रव को भी जहररूप जानता है। यह व्रत ले लिया, लो! इसलिए उसे चारित्र है। धूल भी नहीं है। मिथ्यात्व की पुष्टि करता है। व्रत का विकल्प मिथ्यात्वसहित है और उसे मानता है कि हम चारित्रवन्त हैं और हम आगे बढ़े हैं (किन्तु वास्तव में) नीचे गिरा है, उसके बदले बढ़े हैं, (ऐसा मानता है)। क्या कहा, समझ में आया? आत्मा निर्विकल्प-रागरहित की प्रतीति

और अनुभव नहीं है और यह व्रत लेकर बैठे, इसलिए हम आगे बढ़े हैं, (ऐसा मान लिया वह तो) अमुक का मिथ्यात्व का पोषण किया है। नव तत्त्व की विरुद्ध श्रद्धा का पोषण किया है। ऐसा है। वस्तु ऐसी है। जगत की हुई बलिहारी, इस बाह्यत्याग और बाह्यव्रत के ऊपर जगत का इतना झुकाव है, वह अनादि का है। यह तो ऐसा भी कहाँ है? नौवें ग्रैवेयक गया, ऐसा जो त्यागव्रत, अभी तो वैसा भी कहाँ है? उसकी भूमिका के योग्य व्यवहार चाहिए, वह व्यवहार भी कहाँ है? समझ में आया? मिथ्यादृष्टि का व्यवहार, हों!

यहाँ तो कहते हैं, भाई! वस्तु की स्थिति ऐसी है। उसे उस प्रकार से बराबर जानना और मानना पड़ेगा। आहाहा! यह तो स्वयं पण्डित जयचन्दजी लिख गये हैं। आगे आयेगा। शास्त्र में तो सब आयेगा। ....परन्तु यहाँ स्वयं संग्रह किया है, **दंसणमूलो धम्मो** मार्ग जो वीतराग है, दिगम्बरदशा और दिगम्बर अर्थात् राग के वस्त्र / विकल्परहित अन्तर वीतरागीदशा, निर्ग्रन्थस्वरूप, वह दर्शन है। वह जैनमत और वह जैनदर्शन है। उसकी प्रतीति, उस स्वरूप की प्रतीति, वह सम्यग्दर्शन है। उस सम्यग्दर्शन को पहिचानने के चिह्न की यह बात चलती है। समझ में आया? संसार में भी एक बात को विचारे तो मनुष्य उसके कितने पक्षों को लक्ष्य में लेता है या नहीं?

(२) संवेग – धर्म में और धर्म के फल में परम उत्साह हो, वह संवेग है... प्रशम, संवेग बोल आया है न? समकित का बाह्य लक्षण। धर्म में और धर्म के फल में परम उत्साह। ऐसे धर्म में उत्साह नहीं, फल में (नहीं), ऐसा नहीं है। सम्यग्दृष्टि का यह बाह्य चिह्न उत्साह होता है। वीर्य मन्द पड़ गया नहीं होता कि अरे रे! क्या करे? कहीं मार्ग सूझता नहीं। उत्साह भंग (होवे) ऐसा नहीं होता। धर्मी के वीर्य का उत्साह अन्दर होता है। समझ में आया? **धर्म में और धर्म के फल में परम उत्साह...** वापस परम उत्साह होता है। अकेला उत्साह नहीं। आता है न यह? उत्साह और उस प्रकार का आता है। उद्योग और उत्साह, नहीं आता?

मुमुक्षु : उत्साह...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह नहीं, यह तो मूल गाथा में आता है। उसमें–गाथा में। कहीं आता है। कुछ याद रहता है न कुछ। पूरी गाथा आती है। समकिती का धर्म में उत्साह होवे तो ऐसा होता है और मिथ्यात्व का उत्साह ऐसा होता है। यह है गाथा में, लो! यही आया।

चारित्रपाहुड़ की तेरहवीं गाथा। कहीं होगा। चारित्रपाहुड़ है या नहीं? उसकी तेरहवीं (गाथा) देखो।

ऐसे कारण सहित हो तो सम्यक्त्व छोड़ता है ह्न

उच्छाहभावणासंपसंससेवा कुदंसणे सद्धा।
अण्णाणमोहमग्गे कुव्वंतो जहदि जिणसम्मं।।१३।।

इसके सामने चौदहवीं-

उच्छाहभावणासंपसंससेवा सुदंसणे सद्धा।
ण जहदि जिणसम्मत्तं कुव्वंतो णाणमग्गेण।।१४।।

तेरहवीं गाथा। १३वीं गाथा। ऐ सेठी! तेरहवीं निकालो तो नींद उड़ जाए। ***अर्थ* – कुदर्शन अर्थात् नैयायिक, वैशेषिक,...** पाँच मत। तेरहवीं गाथा, चारित्रपाहुड़ की। **सांख्यमत, मीमांसकमत, वेदान्तमत, बौद्धमत, चार्वाकमत, शून्यवाद के मत इनके भेष...** इनके भेष **तथा इनके भाषित पदार्थ और श्वेताम्बरादिक जैनाभास इनमें श्रद्धा, उत्साह, भावना, प्रशंसा और इनकी उपासना व सेवा जो पुरुष करता है, वह जिनमत की श्रद्धारूप सम्यक्त्व को छोड़ता है,...** समझ में आया? यह तो वस्तु का स्वरूप ऐसा है, भाई! कोई पक्षपात की बात नहीं है। आहाहा! क्या हो? इसका उल्टा लेते हैं, चौदहवीं (गाथा)। देखो! **वह कुदर्शन, अज्ञान और मिथ्यात्व का मार्ग है।**

अर्थ – सुदर्शन अर्थात् सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र स्वरूप सम्यक्मार्ग में उत्साहभावना... देखो! **अर्थात् ग्रहण करने का उत्साह करके बारम्बार चिन्तवनरूप भाव और प्रशंसा अर्थात् मन-वचन-काय से भला जानकर स्तुति करना, सेवा अर्थात् उपासना, पूजनादिक करना और श्रद्धा करना, इस प्रकार जो पुरुष ज्ञानमार्ग से यथार्थ जानकर करता है, वह जिनमत की श्रद्धारूप सम्यक्त्व को नहीं छोड़ता है।** लो, चारित्र का आया। तेरहवीं हो गयी, लो! यह उत्साह का आया न? उत्साह। परम उत्साह है न? क्या कहा?

समकिती को धर्म और धर्म के फल में परम उत्साह होता है। बराबर धर्म ऐसा है और धर्म का फल बराबर केवलज्ञान और मोक्ष होने का ही है—ऐसा उत्साह होता है।

समझ में आया ? न्यालभाई में बीच में लिखा है। न्यालभाई ने। केवलज्ञान आदि की पर्याय का पिण्ड जो द्रव्य, उसे जहाँ श्रद्धा में कब्जे में कर लिया है, अब केवलज्ञान आयेगा ही। समझ में आया ? भगवान आत्मा केवलज्ञान की पर्याय, ऐसी तो अनन्त पर्यायें ज्ञानगुण में पड़ी हैं। ऐसे उस गुण को जहाँ अधिकार में श्रद्धा में ले लिया है, श्रद्धा ने अधिकार कर लिया है कि यह आत्मा ऐसा है। अर्थात् अब पर्याय अन्दर में है, वह प्रगटेगी ही। ऐसा धर्मी को उत्साह अन्दर में धर्म और धर्म के फल का होता है। कहो, समझ में आया ? उसे (ऐसा नहीं होता कि) क्या होगा ? ऐसी रोतलमावणी नहीं होता - ऐसा कहते हैं। यह हमारी काठियावाड़ी भाषा है। रोतलमावणी समझ में आता है ? काठियावाड़ी भाषा है। नहीं समझे ? स्त्री ऐसी होती है न ? रोतलमावणी जैसी ऐं... हुआ ही करे। पराधीन। समकिती ऐसा नहीं होता, यह कहते हैं। उसका शब्द तो होगा तुम्हारी हिन्दी में कुछ। हमारे रोतलमावणी कहते हैं, तुम्हारे दूसरा कुछ (होगा)। है ? आहाहा !

धर्म में और धर्म के फल में परम उत्साह हो, वह संवेग है... इसका नाम संवेग। आहाहा ! भगवान आत्मा पूरा सम्यक् प्रतीति में जहाँ आया है, उसे उत्साह का क्या कहना ! उसे उत्साह का भंग किसका हो ? समझ में आया ? कहा न यह १३-१४ गाथा। उत्साह होता है। अन्यमत के धर्म आदि में उत्साहवाला समकित को छोड़ता है। अपना वास्तविक धर्म है, उसमें धर्म और उत्साह होवे, वह समकित का रक्षण करता है। समझ में आया ? यह सब सुने हुए का यह सब विस्तार आता है। समयसार में समकित का सुना है न, उसका वस्तु का स्वरूप ऐसा है।

तथा साधर्मियों से अनुराग... अपने जैसे धर्मी हो, उनके प्रति उसे प्रेम होता है। उसे द्वेष नहीं होता। यह बढ़ गया, बड़ा आदमी और यह एक महिला और बढ़ गयी, उसे ऐसा नहीं होता। समझ में आया ? आठ वर्ष का लड़का बढ़ गया, लो ! हम पिचहत्तर वर्ष के पीछे रह गये, ५०-५० वर्ष के अभ्यासी तो भी (पीछे रह गये), ऐसा नहीं होता। प्रेम होता है। ओहो ! धन्य मार्ग... धन्य मार्ग ! आत्मा के स्वभाव को प्राप्त (हुए), ओहो ! अलौकिक बात है।

ऐसा चाहे वह बालक हो या स्त्री हो, अपनी पत्नी हो और स्वयं पति हो तथा पत्नी धर्म प्राप्त करे तो उसके प्रति उत्साह होता है। ऐसा नहीं होता कि यह स्त्री कुछ जानती नहीं,

यह बढ़ गयी। समझ में आया? साधर्मी हो, ऐसा उसे मानता है। समकिती हो स्वयं और उसकी पत्नी समकिती को साधर्मी मानता है। उसे उसके प्रति उत्साह होता है। समझ में आया? बाहर में शर्म होगी। कहेंगे, इसकी पत्नी से समझा और धर्म को प्राप्त हुआ।

श्रेणिक राजा, नहीं? रानी से धर्म को प्राप्त हुआ। नहीं? चेलना। उसे शर्म होती होगी? चेलना से धर्म को प्राप्त हुआ न? चेलना रानी। विवाह करके आयी तो कहे, अरे! राजन्! मुझे कहीं जिनवर के दर्शन, प्रतिमा, मन्दिर दिखायी नहीं देते। मुझे कहीं उत्साह नहीं होता। अरे! भगवान परमात्मा कहीं नहीं देखती! बाहर में, मन्दिर में। उदासीन हो जाती है। उसने राजा से बात की, यह कारण है। (राजा कहता है), बनाओ मन्दिर आदि बनाओ। दर्शन कर सकती हो। समझ में आया? .... (मुनि के) गले में सर्प डाला है, तेरे मुनि ऐसे होते हैं, उन्हें सर्प डाल आया हूँ। निकाल दिया होगा। जा, जा निकाला। (रानी कहती है) तुम्हें खबर नहीं, हमारे मुनि ऐसे नहीं होते। (राजा कहता है)—अरे! सर्प डाला हो और लाखों चींटियाँ निकाले बिना रहेंगे? चलो, चलो।

मुनि अन्तर आनन्द में झूलते थे। शरीर में लाखों चींटियाँ।... राजन! जैनधर्म के सन्त राग को जीतकर ऐसे होते हैं। आहाहा! समकित को प्राप्त हुए हैं, लो! ठीक! समझ में आया? उन्हें शर्म आती होगी? अरे! धर्म तो यह पहले से प्राप्त हो गयी है, मैं तो पीछे रहा। बाद में तीर्थंकर होंगे, लो!

मुमुक्षु : वे तो आगे बढ़ गये।

पूज्य गुरुदेवश्री : बढ़े कहाँ? भले बढ़े। उन्हें सन्तोष है। यह बढ़ी हुई हो तो पहले से उसे सन्तोष है। ऐसा नहीं कि इस स्त्री ने मुझे बराबर समझाया और साधर्मीरूप से। स्त्रीरूप से तो संसार में पति है। साधर्मीरूप से तू साधर्मी आत्मा है। मेरा आत्मा समकिती है, ऐसा ही साधर्मी आत्मा तुम हो। साधर्मीरूप से तुम्हें रखूँगा। आहाहा! समझ में आया?

परमेष्ठियों में प्रीति... पाँच परमेश्वर—अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु—इनके प्रति जिसे प्रेम हो। समझ में आया? अन्यत्र प्रेम नहीं हो। परमात्मा पूर्ण स्वरूप को प्राप्त और पूर्ण स्वरूप को साध रहे हैं—ऐसे आचार्य, उपाध्याय और साधु के प्रति समकिती को प्रेम है। समझ में आया? **वह भी संवेग ही है...**

तथा धर्म के फल में अभिलाषा नहीं करना चाहिए,... स्पष्टीकरण करते हैं।

इसे अनुराग नहीं कहना, अभिलाषा नहीं कहना। अनुराग और अभिलाषा नहीं कहना। **क्योंकि अभिलाषा तो उसे कहते हैं, जिसे इन्द्रियविषयों की चाह हो। अपने स्वरूप की प्राप्ति में अनुराग को अभिलाषा नहीं कहते।** लो! अपना स्वभाव, उसकी जो अभिलाषा-भावना, उसे राग नहीं कहते। ऐसी अभिलाषा तो अज्ञानी को भी होती है। समझ में आया?

(३) निर्वेद – इस संवेग में ही निर्वेद भी हुआ समझना, क्योंकि अपने स्वरूप रूप धर्म की प्राप्ति में अनुराग हुआ, तब अन्यत्र सभी अभिलाषा का त्याग हुआ,... अस्ति-नास्ति की है। **सर्व परद्रव्यों से वैराग्य हुआ,...** एक निजद्रव्य के प्रति दृष्टि-रुचि, इसके अतिरिक्त सब परद्रव्यों के प्रति रुचि का त्याग हो गया, वह निर्वेग। समझ में आया? इसमें आगे मोक्षपाहुड़ में आता है न? **'सदव्वादो सुग्गई'** **'परदव्वादो दुग्गई'** स्वद्रव्य से सुगति-मुक्ति आदि प्राप्त होती है। आदि क्यों लिखा है? पद लिखा, रखा है। समझ में आया? ....**'कामद् मोक्षदं चैव'** और **'परदव्वादो दुग्गई'** परद्रव्य के लक्ष्य में जाएगा तो राग ही होगा। उससे आत्मा की गति-सुगति नहीं (होगी)। समझ में आया? **सभी अभिलाषा का त्याग हुआ, सर्व परद्रव्यों से वैराग्य हुआ, वही निर्वेग है।** अपने स्वरूप की अभिलाषा, वह संवेग; परद्रव्य की अभिलाषा का त्याग, वह निर्वेग। इस समकिती के ऐसे बाह्य लक्षण होते हैं। समझ में आया?

(४) अनुकम्पा – सर्व प्राणियों में उपकार की बुद्धि और मैत्रीभाव, सो अनुकम्पा है... इसका नाम अनुकम्पा है। सब प्राणियों में उपकारबुद्धि। एक का खण्ड अलग करके नहीं। भाई! अनन्तानुबन्धी के अभाव के भाव से उसे अनुकम्पा कही है न! सर्व प्राणियों में उपकार की बुद्धि, मैत्री भाव। **तथा मध्यस्थभाव...** तथा मैत्री भाव। उपकार की बुद्धि तथा मैत्री भाव, ऐसा। **सो अनुकम्पा है तथा मध्यस्थभाव होने से सम्यग्दृष्टि के शल्य नहीं है,...** किसी का विरोध नहीं है। अन्दर में विरोध नहीं, शल्य नहीं। अनन्तानुबन्धी का भाव गया है, मारनेवाले के लिये अन्दर कोई डंक रह जाए, ऐसा नहीं है। लड़का किसका? मारे कौन? ....उसे अन्दर में डंक नहीं होता। अज्ञानी तो डंक रखता है, उसने ऐसा किया था। एक बार भरी सभा में मेरा अपमान किया था। बराबर उसका सही अवसर में अपमान करूँ तो... कहलाये। यह ज्ञानी को नहीं होता है। शल्य

नहीं होती। समझ में आया? ...है। लड़ाई का कारण आवे और लड़ाई में जाए, विकल्प आवे परन्तु वह व्यक्ति के प्रति द्वेष नहीं है। समझ में आया? वह तो अस्थिरता का भाव आया था। अन्दर में तो मध्यस्थ है। आहाहा! वाह! परपदार्थ ज्ञेय है, उसमें इष्ट-अनिष्टपना है ही नहीं। इष्ट-यह ठीक-अठीक माना, वह तो मिथ्यात्वभाव है। समझ में आया? अनुकम्पा, मध्यस्थभाव।

किसी से बैरभाव नहीं होता,... यह सब पंचाध्यायी की बात है। **सुख-दुःख, जीवन-मरण अपना पर के द्वारा और पर का अपने द्वारा नहीं मानता है...** देखो! बन्धभाव। दूसरे को सुख के संयोग दूँ, वह मैं देता हूँ-ऐसा नहीं मानता। इसी तरह दूसरे को दुःख देता हूँ—ऐसा नहीं मानता तथा दूसरे मुझे सुख-दुःख के संयोग देते हैं—ऐसा नहीं मानता। समझ में आया? यह सब अनुकम्पा की व्याख्या चलती है। आहाहा! **सुख-दुःख, जीवन-मरण...** मैं पर को मार सकता हूँ या पर से मैं मरता हूँ—ऐसा नहीं है। देह, हों! देह। आत्मा को तो कहाँ मरण है? मैं पर की देह मार सकता हूँ, छोड़ दूँ, मेरे देह को वह छुड़ावे, प्राण (छुड़ावे)—ऐसा नहीं है। इतनी अनुकम्पा आत्मा में समभाव वर्तता है, लो!

तथा पर में जो अनुकम्पा है सो अपने में ही है, इसलिए पर का बुरा करने का विचार करेगा तो अपने कषायभाव से स्वयं अपना ही बुरा हुआ;... यह तो अपना ही नुकसान हो गया, अनुकम्पा अपनी ही गयी। **पर का बुरा नहीं सोचेगा, तब अपने कषायभाव नहीं होंगे, इसलिए अपनी अनुकम्पा ही हुई।** लो! प्रशम, संवेग, निर्वेद और अनुकम्पा चार बोल चले हैं। एक रहा - आस्था। समझ में आया? यह आखिरी व्याख्या (आयेगी)। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)